मध्यकालीन हिन्दी–साहित्य का आत्मस्वर

डॉ. प्रवीण पण्ड्या, प्रधानाचार्य, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, साँचौर

तीन शताब्दियों की कालावधि, सैकड़ों रचनाकारों एवं विशाल जन–समाज से मध्यकालीन साहित्य बनता है। भक्ति और रीति इसका क्रमशः पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध माना जाता है। मध्यकाल का साहित्य हिन्दी में वेदान्तियों की वह प्रस्थानत्रयी है, जिसका भाष्य किए बिना कोई आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। साहित्य की मूल्यवत्ता की दृष्टि से यह स्वर्ण–काल है। कालजयी रचनाएँ उसकी उपज हैं। आधुनिक काल के अनेक पड़ावों को पार करके हिन्दी का साहित्य रसिक आज जहाँ है, वहाँ भी कबीर, तुलसी, सूर, मीराँ का तेज दुर्धर्ष है। निःसंदेह, आधुनिक काल ने कई मुद्दों को छुआ है और वहाँ वह अपेक्षया अधिक तीक्ष्ण अभिव्यक्ति से समृद्ध हुआ है। तथापि यह जाँचना जरूरी है कि आज हिन्दी के जो गंभीर आलोचक हैं, वे मध्यकालीन साहित्य को केंद्र में रखकर क्यों चलते हैं! आचार्य नामवर सिंह जैसे मेधावी व तपस्वी आलोचक ने अपना पूरा जीवन आधुनिक साहित्य की समीक्षा में खपा दिया, किन्तु उनके नित्य पारायण में मध्यकालीन रामचरित मानस है। यह वस्तुतः इस साहित्य की अपनी शक्ति है। इन कवियों के पास दृष्टि है, केवल मुद्दे ही नहीं।

मध्यकालीन भक्ति–साहित्य के मूल स्वर की बात करेंगे तो हमें पूर्ववर्ती विद्वानों की स्थापनाओं को समझना होगा। डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी साहित्य के सामाजिक मूल्यों को बखूबी व्यक्त किया है। आचार्य शुक्ल की लोक–मंगल की अवधारणा तो तुलसी पर ही टिकी हुई है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की करीबन इन आधारों पर भी महत्ता जतलाई है। नामवर जी ने तुलसी और कबीर को आमने–सामने रखते हुए शुक्ल जी व द्विवेदी जी की दृष्टिभिन्नता प्रतिपादित की है, जबकि कबीर और तुलसी की कोई समान भूमि भी है। उस समान भूमि को वह नहीं उभारते हैं। आचार्य शुक्ल की आलोचना के केंद्र में सामाजिकता है। वह तुलसी पर रीझे हैं तो उसी हेतु। जबकि आचार्य द्विवेदी आस्थाशील हैं और व्यक्तिगत साधना को उपेक्षित नहीं करते हैं। शुक्ल जी के लिए भक्ति मुस्लिम आक्रान्ताओं से दलित हुए हिन्दू समाज का स्वर है। भक्ति के संदर्भ में आचार्य शुक्ल की यह मान्यता दूषित है, किन्तु उसके बावजूद भक्तिकाल के मूल्यांकन में उनका योगदान अधिक है न कि द्विवेदी जी

का। कारण कि कविता की परख को आचार्य शुक्ल एक क्षण भी एक तरफ नहीं रखते हैं किन्तु द्विवेदी जी की आलोचना में साहित्य शास्त्रीय पक्ष उतना दृढ़ नहीं है। साथ ही यह कहना न्यायसंगत होगा कि भक्ति के मूलस्वर की पहचान शुक्ल जी ने नहीं, द्विवेदी जी ने की है। वस्तुत:, लोक-मंगल और सामाजिक-मूल्य मूलस्वर नहीं, उस मूल स्वर के महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं।

मध्यकालीन साहित्य के अनेक भाष्य हुए हैं और प्राय: प्रत्येक भाष्य में उसकी महानता को स्वीकारा गया है। महानता के लिए जो आधार उपलब्ध करवाए गए हैं, वे अलग-अलग हैं। इससे बढ़कर किसी साहित्य की श्रेष्ठता का अन्य क्या मानदंड हो सकता है! मध्यकाल का उत्तरार्ध रीतिकाल है, यह कहना जितना सही है, उतना ही सही उसे भक्तिकाल कहना भी है। इस कालखंड में भी रीति के मध्य भक्ति उपस्थित है। रीतिकाल को वह कालखंड कहना होगा जिसमें उत्तरोत्तर भक्तिकाल की शक्ति क्षीण होती गई। अभीष्ट तो रीतिकालीन कवियों के लिए भक्ति थी, परन्तु शक्ति-क्षीणता के कारण विफलता उनकी नियति थी। साहित्य की चिन्तन-पीठ पर कबीर, तुलसी आदि अनिवार्य केंद्र हैं, जबकि वीरगाथाओं वाले आदिकाल के काव्यों व कवियों के बारे में निश्चित होकर यह नहीं कहा जा सकता। भक्तिकाल और आदिकाल के मध्य दृष्टि का गहरा अन्तर है। आधुनिक काल के भी कई पड़ाव अब गतार्थप्राय: हैं और जो पड़ाव बचे हैं, उनमें से बहुत कुछ छँटेगा। कहना यह नहीं है कि मध्यकाल का सारा कुछ भास्वर है, अपितु कहना यह है कि उसके केंद्र में भास्वरता का अखूट स्रोता है।

मध्यकाल की भास्वरता का अखण्ड सोता अध्यात्म है। भक्ति साहित्य की समस्त धाराएँ यहीं से प्रवाहित हैं। जीवन का अन्तिम प्राप्तव्य और उसके बाधक-साधक तत्त्वों की पहचान इन संतों के जीवन और सर्जन–दोनों का ध्येय है।

(२)

रहीम रीतिकाल के कवि हैं। सत्यप्रकाश मिश्र द्वारा संपादित रहीम रचनावली में इनकी रचनाओं को दोहावली, नगर- शोभा, बरवै नायिका-भेद, बरवै, मदनाष्टक, फुटकर छन्द व पद, संस्कृत और भाषा काव्य के शीर्षकों में दिया गया है। रचनावली होने से रहीम का संस्कृत में लिखा ज्योतिष ग्रन्थ खैटकौतुकम् भी शामिल कर दिया है। रहीम रीति- कविता के बड़े स्तंभ हैं। रीति का यह बड़ा कवि कहता है :

राम जान्यो नहीं, भइ पूजा में हानि।
कही रहीम क्यों मानि है, जम के किंकरजानि।।
राम नाम जान्यो नहीं, जान्यो सदा उपाधि।
कहि रहीम तिहि अपनो, जन्म गँवायों वादि।। (२४७-२४८)

रहीम ही नहीं, रीति-काल के अन्य समस्त कवियों में यह भाव-भूमि मिल जाएगी। ये कवि उस भाव-भूमि पर उतर तो जाते हैं, किन्तु टिक नहीं पाते हैं। कविता जब अपनी गहराई में जाकर प्रकट होती है, तब यह अध्यात्म एवं अध्यात्म प्राण धर्म की कविता बनती है। रीतिकाल स्थूल है, अत: उसकी काव्यात्मक ऊँचाई नहीं है। रहीम के नगर- शोभा काव्य में शृंगार की उपस्थिति बताना ठीक नही है। बनियांइन, रंगरेजनी, बनजारी, सुनारी, लुहारी, कुम्हारी आदि असंख्य जातियों की स्त्रियों के यौवन को निहारते हुए दोहावली के कवि रहीम यहाँ पर धड़ाम से नीचे गिर जाते हैं। रति में एक गहरा लगाव होता है और वही रस के रूप में विस्तार को पाता है। रति का आभास होने से यह शृंगार की कविता नहीं बन सकी है। कालिदास के दुष्यन्त की रति ही शकुन्तला के रूप को अनाघ्रात पुष्प से अखण्ड पुण्यों के फल तक विकल्पित करती है। नायिका भेद को दर्शाते हुए जो बरवै लिखे हैं, उनका भी कोई मूल्य नहीं है।

रहीम की प्रतिष्ठा उनकी दोहावली है। रहीम के जो नीति दोहे हैं, वे आत्मबोध की उपज नहीं हैं। कहीं-कहीं वे चतुर सुजान नागरिक के अनुभव हैं तो कहीं समाज में प्रशंसित पथ पर चलने का झुकाव मात्र है। रहीम का यह दोहा मानो रीतिकाल की परिणति को बताने हेतु जन्मा है :

हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि अपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर।।

केशवदास, बिहारी आदि भक्ति को साधने का निष्फल प्रयास करते हैं। यह प्रश्न स्वाभाविक है और उठना भी चाहिए कि इसके बावजूद ये कवि भक्ति को क्यों साध रहे हैं या इस काल के केन्द्र में भक्ति क्यों है? वस्तुत: उस पूरे कालखंड में जो सहृदय जन-समाज था, वह अपने पूर्वज भक्त कवियों की रचनाओं से तृप्त होता था।

(३)

अध्यात्म का नाम लेते ही भारतीय समाज में एक शब्द अनायास प्रकट हो जाता है: धर्म। यह वह शब्द है, जो स्वरूप एवं विरूपों के साथ हमारी साहित्य परम्परा में किसी प्रकार से अस्पष्ट नहीं है। धर्म अपने आप में महान शब्द है। रावण द्वारा राम की आलोचना में जब उन्हें धर्मच्युत बताया गया, तब मारीच ने इसका खण्डन किया और '**रामो विग्रहवान् धर्म:**' कहा। जो भौतिक आकार की कोई वस्तु नहीं है, उस धर्म को राम के रूप में साकार बताया। इस धर्म के स्वरूप और विरूपों को पहचानने की जो कसौटी है, वह अध्यात्म है। शव व शरीर में प्राणों के होने या न होने का ही अन्तर है। एक की पवित्रता एवं दूसरे अपवित्रता इन प्राणों पर है। ये प्राण ही धर्म हैं। जिन लोथड़ों में प्राण नहीं हैं, वे धर्महीन हैं, अपवित्र हैं। जो केवल नाम मात्र से पिता कहलाता है या नृप (नृन् पाति इति नृप:) कहा जाता है, वह

धर्मरहित होने से अपवित्र है। जिस मनुष्य की पुत्ररूपता या नियत कर्म हेतु नियत वेतन लेने के बावजूद जिसकी कार्मिकता दिखावटी है, वह लाश है। उसका धर्म नष्ट हो चुका है। इस अधर्म्य अथवा लाश के दर्शन तक को निन्द्य माना जाता है। पूरा मध्यकालीन भक्ति साहित्य इस धर्म के प्रति जागरूक है और यही उसकी भास्वरता है। धर्म के स्वरूपों एवं विरूपों को अलगाने की शक्ति अध्यात्म है। यह अध्यात्म इस काव्य का केन्द्रीय तत्त्व है।

भारतीय समाज में 'ब्राह्मण' एक बहुत बड़ा पद (शब्द) है। जब वह अपना धर्म छोड़ निष्प्राण शव, एक लाश में परिणत होने लगा, तब बुद्ध ने उसके स्वरूप को प्रतिपादित कर विरूपों के प्रति चेताया:

न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो।। (धम्मपद, ३९३)

(न जटाओं, न गोत्र, न जन्म से (कोई) ब्राह्मण होता है। जिसके पास सत्य और धर्म है, वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।)

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि।। (३९४)

(दुर्बुद्धि! तेरे द्वारा जटा बना लेने और मृग चर्म लपट लेने से क्या हो गया? तेरे भीतर तो गहरी मलिनता है और बाहर नहाता है।)

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवम्।
अकिञ्चनं अनादामं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।। (३९६)
अक्कोसं वधबन्धञ्च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तीबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मण।। (३९९)

(मैं किसी को जन्म से ब्राह्मण नहीं कहता हूँ। जिसके पास कुछ भी नहीं है और जो कुछ भी नहीं लेता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।) जो गाली, वध (दण्ड) और कारावास को अपने चित्त को दूषित किए बिना है। क्षमा (सहन-शक्ति) जिसमें है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

महावीर की वाणी में इन्हीं अनुगूँजों को सुना जा सकता है:

न वि मुंडिएण समणो, न ओकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो।। (पृ.१५०)
समयाए समणो होइ, बंभचेरेणे बंभणो।
नाबंग मुणी होइ, तवेण होइ तावसो।। (पृ.१५०)
कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खमिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।। (पृ.१५०)
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं।। (पृ.१४८)

(मुंडाने से कोई श्रमण नहीं बन जाता है और ओंकार के जप से कोई ब्राह्मण नहीं होता है। जंगल में बसने से कोई मुनि नहीं होता है और वल्कल या कुशा पहनने से कोई तापस नहीं हो जाता है। समता अर्थात् सबके प्रति समदृष्टि के विकास से श्रमण, ब्रह्मचर्य अर्थात् स्वाध्याय में निरन्तर डूबे रहने से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। गुस्से में होने से या किसी लोभ से अथवा किसी डर से जो झूठ नहीं बोलता है, हम उसे ब्राह्मण कहते हैं।)

इन काव्यों का अनुवर्तन भक्ति साहित्य ने किया है और ये स्वयं भी अपने पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यों के अनुवर्तन हैं। फलतः, एक सुदीर्घ परम्परा है, जो बुद्ध महावीर के पूर्व और पश्चात् विद्यमान है। भक्ति साहित्य को इस परम्परा से काट कर नहीं देखा जा सकता है। कबीर की वाणी है:

'पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नाहिं।' (पृ.६२)
''कबीर भेष अतीत का ,करतूति करै अपराध।
बाहिर दीसै साध गति, माँहे महा असाध।।'' (पृ.८६)

कबीर अध्यात्म के महान कवि हैं। उन्होंने चेतना का निर्बाध साक्षात्कार किया है। अतएव इस साक्षात्कार की बाधाओं एवं इसके पथ में आने वाले भटकावों के प्रति पाठक को सचेत करते हैं। कबीर की करुणा यहीं पर है। उनका काव्य-प्रयोजन व्यक्ति को अपनी चेतना के साक्षात्कार में आने वाली बाधाओं और होने वाले भ्रमों से सावधान करना है। उनकी साखी के जो ५९ विषय हैं, उन्हें दो महाविषयों–आत्म साक्षात्कार का पथ और उस पथ में भटकाव में बाँटा जा सकता है। अध्यात्म कबीर

का केन्द्र है। केन्द्राभिमुख प्रवृत्तियों का प्रतिपादन और उससे विमुखता के प्रति जागरूक करना कबीर का धर्म है। कबीर इसी धर्म को निभा रहे हैं।

कबीर साधक हैं। वह साधना अर्थात् बोध के पक्षपाती हैं। उनकी यह साधना वैष्णवी आधार-पीठ पर खड़ी हुई है। वैष्णवता की सच्ची भूमि पर खड़े होने से ही कबीर साम्प्रदायिकता से मुक्त हैं। वह शाक्तों के प्रति कठोर हैं तो यह कोई साम्प्रदायिकता नहीं है। हिंसा-अर्थात् रक्तपात और क्रूरता के प्रति वैष्णवों की स्वाभाविक घृणा है। यह घृणा करुणा से उपजी है। अतएव वह शाक्त ब्राह्मण की अपेक्षा वैष्णव चाण्डाल का मिलन अच्छा मानते हैं:

चंदन की कुटकी भली, नाँ बंबूर की अबराउ।
बैश्नों की छपरी भली, नाँ साकत का बड़ गाँउ।। (पृ.८६)

'उपदेश कौ अंग' शीर्षक में संकलित साखियों में अन्यतम साखी है:

ऐसी बाँणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौ सुख होइ।। (पृ.९२)

कबीर आत्मबोध सम्पन्न हैं, उनकी वाणी में तीक्ष्णता नहीं, अपितु करुणा-जनित खेद है। वह नीरस ज्ञानी नहीं है। नीरस ज्ञानियों के प्रति तो उन्होंने गहरा खेद व्यक्त किया है :

चारिउ बेद पढाइ करि, हरि सू न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढ़ै खेत।।
कासी काँठे घर करैं, पीवैं निर्मिल नीर।
मुकति नहीं हरि नाँव बिन, यों कहें दास कबीर।। (पृ.७६)

कबीर को वे दिन, वह समय सालता है, जो भक्ति रहित बीत गया :

कबीर कैसो की दया, संसा घाल्या खोइ।
जे दिन गए भगति बिन, ते दिन सालै मोहि।। (पृ.१११)

कबीर संवेदना प्रवण भक्त हैं। न जाने क्यों भ्रम बैठ गया कि निर्गुण धारा के कवियों के पास हृदय नहीं है और सगुण धारा के कवि संवेदना के सागर हैं। यह तथ्य ओझल नहीं होना चाहिए कि निर्गुण धारा के कवियों का परम ज्ञान तो प्रेम यानी भक्ति है। शुष्क ज्ञानी तो खेत में घूमते रहते हैं और उनके हाथ डंठल लगते हैं। सार तो कबीर जैसे भक्तों को प्राप्त होता है। यह शुष्कता अन्य कुछ भी नहीं है, सिवाय अहंकार के। नीरस ज्ञानियों और सत्ताधीशों को जातिवादी शब्दावली में ब्राह्मणवाद और सामन्तवाद संज्ञाओं से पहचाना गया; इन शब्दों से उनका अपना अर्थ छिटक जाने से। वसिष्ठ जैसा महान ऋषि जब

यौवराज्याभिषेक के अंगभूत उपदेश के लिए राम क महल में जाते हैं तो राम कहते हैं कि यद्यपि सेवक के घर मालिक का आना मंगलमय होता है, तथापि उचित तो यह था कि आप सेवक को बुलावा भेज देते। परन्तु आपने प्रभुता को एक तरफ करके स्नेह को आगे रखा है: (प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह स्नेह) (अयोध्याकाण्ड) प्रेम और प्रभुता का द्वन्द्व भक्ति साहित्य का मुख है। प्रभुता का निरास और प्रेम की प्रतिष्ठा अध्यात्म का स्वभाव है।

कबीर भक्ति को पाखंड नहीं मानते हैं, वह तो उसका विधान करते हैं। माला- जप, तीर्थाटन आदि बाह्य साधन हैं और गहराई में प्रविष्ट साधक या व्यक्ति तन्मात्रनिष्ठता का आलोचक होता है। यह आलोचना उनकी लक्ष्य भ्रष्टता की आलोचना है, उनका सर्वथा निषेध नहीं है। भक्ति के बिना माला-जप और तीर्थाटन निस्सार हैं। उनके लिए भक्ति मुख्य है :

मथुरा जावै द्वारिका, भावैं जावैं जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवैं हाथ।। (पृ.८६)

कबीर के लिए वही कुल ऊँचा है, जिस कुल में भक्त जन्म लेता है:

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
जिहिं कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास।।

कबीर की भक्ति अथवा अध्यात्म समाज के स्थापित मूल्यों को कसौटी पर रखता है। ऊँचे कुल के जो मानदंड हैं, उन्हें खारिज कर वहाँ भक्ति को प्रतिष्ठित किया है। आधुनिक काल ने कबीर को आधा स्वीकारा है और आधा खारिज किया है। कबीर का ऊँचे कुल का जो आधार है, उस भक्ति पर वह बात ही नहीं करता।

कबीर तो उस स्त्री को धन्य मानते हैं, जिसने भक्त को जना है:

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनों पूत।
राँम सुमरि निरभैं हुवा, सब जग गाया अऊत।। (पृ.८९)

कबीर दारिद्र्य को श्रेष्ठ बताते हैं, यदि वह भक्ति का कारक है:

राँम जपद दालिद भला, टूटी घर की छाँनि।
ऊँचे मंदिर जालि दे, जहाँ भगति न सारँगपांनि।। (पृ.८९)

अध्यात्म या आत्मबोध धर्म को ज्यों का त्यों नहीं अपनाता, अपितु उसे कसौटी पर कसता है। व्यक्ति एवं समाज-ये दो भिन्न सत्ताएँ न होकर एक ही सत्ता की दो अवस्थाएँ हैं। समाज की चेतना-

केन्द्रित अवस्था व्यक्ति है और व्यक्ति की सृष्टि केन्द्रित अवस्था समाज है। चेतना केन्द्रित अवस्था को हम धर्म कह सकते हैं और सृष्टि केन्द्रित अवस्था को धर्म। अध्यात्म सूक्ष्म होता है और धर्म उस सूक्ष्म की स्थूल अभिव्यक्ति। धर्म समाजाश्रित है और अध्यात्म व्यक्ति-अवलम्बित।

कवि मूलत: आध्यात्मिक होता है, धार्मिक नहीं। राजा स्वभावत: धार्मिक होता है, आध्यात्मिक नहीं। राजा धर्म से अध्यात्म की ओर जाता है, जबकि कवि अध्यात्म की दृष्टि से धर्म को देखता है। भर्तृहरि ने राजा व कवि को द्वन्द्व के रूप में खड़ा किया है। कवि आत्म चैतन्य को खोजता, पहचानता हुआ क्रमश: प्राप्त करता है। उसकी यह यात्रा उसे धर्म (समाज) से विरत नहीं करती, प्रत्युत नयी दृष्टि से उसमें प्रवृत्ति करती है। जिन कवियों की कविता में प्रतिष्ठित धर्म/समाज के मूल में अध्यात्म नहीं है, उनका वह धर्म या समाज दर्शन खोखला है।

इस बात को समझना होगा कि कबीर ने किसी सम्प्रदाय का खण्डन नहीं किया है। वह केवल उन सम्प्रदायों के भ्रमों का खण्डन करते हैं।

काजी मुलाँ भ्रमियाँ, चल्या दुनीं की साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि।।
जोरी कलिर जिहै करै, कहते हैं ज हलाल।
जब दफतर देखंगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल।।
सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबैं जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिन कौं कहाँ खुदाई।। (पृ.८१)

ईश्वरोपासना कबीर को अभीष्ट है। वह ईश्वरोपासना के समस्त रास्तों का अनुमोदन करते हैं। अतएव उन समस्त रास्तों के भ्रमों से सावधान करते हैं। इन रास्तों में जहाँ-जहाँ भटकाव हैं, वहाँ-वहाँ चेताते हैं। माला, तिलक, ध्यान, धारणा, प्राणायाम, नमाज, जप आदि अपने स्वरूप में उपादेय हैं, वही इनका विरूप हेय है। भ्रम या धोखा पाखंड है। किरातार्जुनीय में महाकवि भारवि इसी भ्रम को पकड़ते हैं। दुर्योधन जनता में अपने को अच्छे शासक के रूप में 'प्रस्तुत' करता है। 'प्रस्तुति' और 'वास्तव' में यदि कोई अन्तर है तो वह पाखंड है। ईश्वरोपासना न करते हुए भी ईश्वरोपासना करते हुए अपने को दिखाना पाखण्ड है, ईश्वरोपासना अपने आप में कोई पाखंड नहीं है। कबीर पाखंड का निषेध करते हैं, सत्य का नहीं। ईश्वरोपासना कबीर का सत्य है, जिसका वह प्रतिपादन करते हैं। ईश्वरोपासना का ढोंग पाखण्ड है, जिसका उन्होंने बखूबी खण्डन किया है।

'भ्रम विधौसण कौ अंग' शीर्षक साखियों में पूज्य की पूजा न करने पर खेद व्यक्त किया है।

कबीर कटुता के नहीं, खेद के कवि हैं। उनकी वाणी में उग्रता या आक्रामकता न होकर एक सच्चे हितैषी कवि का वही खेद है, जो व्यास ने **ऊर्ध्वबाहुर् विरौम्येष न कश्चिच्छृणोति** कहकर प्रकट किया है। उनकी वाणी को आत्मबोध से सर्वथा दूर हो चुके असहृदयों ने अन्यथा रूप में लिया है तो भी साहित्यालोचक का यह धर्म है कि वह उसके स्वभाव को प्रतिष्ठित करें। अध्यात्म जितना गहराता जाता है, कवि धर्म की सूक्ष्मता का उतनी मात्रा में साक्षात्कार करता जाता है। धर्म श्रेयस्कर होते हुए भी अन्ततः जड़ है। उसकी चेतना तो अध्यात्म है। जब धर्म अपना स्वरूप छोड़ने लगता है, कवि का अध्यात्म उसकी अच्छी खोज खबर लेता है। धर्म की व्यापक समीक्षा महाकाव्य में ही संभव है, अतः व्यापक धर्म की प्रतिष्ठा वहीं होती है। खण्डकाव्यों व मुक्तकों में धर्म का व्यापक स्वरूप गृहीत नहीं हो पाता है। कबीर धर्म के नहीं, अध्यात्म के कवि हैं। या यों कहें कि कवि हैं, महाकवि नहीं। महाकवि की पदवी उसे दी जा सकती है जो समाज को उसकी व्यापकता में देखने की रचना करता है। कबीर मूलदृष्टि का प्रतिपादन तो करते हैं, किन्तु समाज में उसके प्रतिफलन को व्यापक रूप में वर्णित नहीं करते हैं। काव्य केवल दर्शन नहीं है, वह वर्णन भी है। जहाँ दोनों पक्ष बराबर सध पाते हैं, वहाँ महाकाव्य अवतीर्ण होता है।

यहाँ यह उल्लेख भी युक्तियुक्त होगा कि जिन्होंने परिपाटी के अनुरूप एक अच्छी खासी दुनिया खड़ी कर दी है, किन्तु उसकी दृष्टि में कोई दम नहीं है तो उसे भी महाकवि कहना औपचारिक होगा। अध्यात्म की सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति मुक्तक काव्यों में संभव है, किन्तु उस पर अवलम्बित वृहत्तर धर्म की प्रतिष्ठा तो प्रबन्ध काव्यों में ही हो सकती है। काव्य के दो ही पक्ष हैं : दर्शन एवं वर्णना। दर्शन का उत्कर्ष सौक्ष्म्य में है तो वर्णना का उत्कर्ष धर्म की व्यापकता को प्राप्त करना है। दृष्टि का सौक्ष्म्य कबीर की कविता में कहीं भी ओझल नहीं हुआ है। यहीं पर उनकी महानता है। वह कहते हैं –

'जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नाहीं हरि चरन निवासा।' (पृ.९२)

'चाह' चाहे, वैकुंठ की क्यों न हो, निन्द्य है। यह है कबीर का दृष्टि सौक्ष्म्य। वह सब आवरणों को भेदकर उसके भीतर के सत्य तक पहुँचते हैं। पत्थर पूजने वालों का अभीष्ट तो 'करतार' को पूजना है, किन्तु अन्तर्मुखता के अभाव में वह पत्थर पूज कर रह जाते हैं:

पांहण केरि पूतला, करि पूजै करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार।। (पृ.८२)

यहाँ कबीर का मूल स्वर क्या है, इस पर गंभीरता से सोचना होगा। हमें कबीर की चेतना को अधिक गहराई से समझना होगा। कबीर मूर्ति पूजा के निषेध और विधान के झमेले में पड़ने वालों की कोटि से बहुत ऊँची कोटि के महात्मा हैं । उनके जितने भी निषेध प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः किसी न

किसी के मूलत: विधान हैं। निषेध तो उनकी विधेयात्मकता का एक पक्ष है। इस दोहे की दृष्टि-विश्रान्ति 'करतार पूजा' के विधान में है, न कि मूर्तिपूजा के निषेध में। हम उनकी दृष्टि की मुख्यता को पकड़ते हैं तो उनको आत्मसात् कर सकते हैं। उस स्थिति में गौण-पक्ष तो स्वत: सध जाएगा। इसके विपरीत गौण-पक्ष पर दृष्टि टिकाते हैं तो कबीर के मुख्यार्थ को आत्मसात् करना संभव नहीं है।

सम्पत्ति या वैभव क्या है, इस बारे में दो मत हैं। एक मत है करतार से विमुखों का। उनके लिए बाह्य सम्पत्ति, बाह्य वैभव–चकाचौंध, भोग-विलास एवं राजप्रतिष्ठा मुख्य है। दूसरा मत है करतार की ओर दृष्टि बाँधे हुए लोगों का। इनके लिए आभ्यन्तर सम्पत्ति, आभ्यन्तर वैभव–त्याग, अपरिग्रह और आत्मप्रतिष्ठा मुख्य है। यही नहीं, अपितु इस आभ्यन्तर सम्पत्ति के साधनों में भी जहाँ स्थूलता आ जाती है, उसको भी स्व-भाव में प्रतिष्ठित करने का काम आध्यात्मिक महापुरुष करते हैं :

निषेधनं प्रपञ्चस्य, रेचकाख्य: समीरण:।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्ति:, पूरको वायुरीरित:।।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं, कुम्भक: प्राणसंयम:।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां तु घ्राणपीडनम्।। (अपरोक्षानुभूति:)

स्थूल दृष्टियों के लिए प्राणायाम महज नाक को पीड़ा देना है, ऐसा कहकर आचार्य शंकर मानों योग का उपहास कर रहे हैं। वस्तुत: यह उपहास न होकर एक आत्मचेता का खेद है। कोई भी बाह्य क्रिया तभी सार्थक है, जबकि वह अपनी आभ्यन्तर शक्ति से जुड़ी हो। कबीर के काव्यों में ऐसी अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं। दृष्टि के सौक्ष्म्य की ये अभिव्यक्तियाँ एक परम्परा है। शंकर के बाद कबीर है तो पहले भगवान बुद्ध। मूलगामी दृष्टि में प्रतिष्ठित होना और उसे प्रतिष्ठित करना काव्य की आध्यात्मिकता है। उपनिषद ज्ञात परम्परा में सबसे प्राचीन हैं। देह की नश्वरता, आत्मा की अमृत्यु, भोगों की क्षणिकता-निस्सारता वहाँ से कबीर तक एक ही परम्परा में प्रतिपादित हो रहे हैं। देहनाश अर्थात् मृत्यु की अवश्यम्भाविता को कबीर मार्मिक अभिव्यक्ति देते हैं :

सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूँ तोरणि आया बींद।।
जो ऊग्या सो आंथवै, फल्या सो कुमिलाई।
जो चिणियां सो ढ़हि पडै, जो आया सो जाइ।। (पृ.६४)

कबीर की इन अभिव्यक्तियों में वर्णना का पक्ष भी सध गया है। यहाँ उन्होंने लोक से बिम्ब लिए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अपना चिन्तन है, अपना मन्तव्य है, किन्तु उन जैसा अपने ही विचारों से

तटस्थ रहकर आलोचना करने वाला आलोचक दुर्लभ है। वह कबीर के काव्य के उन स्थलों को ही श्रेष्ठ बताते हैं, जहाँ लोक उपस्थित है। जहाँ केवल वैयक्तिक साधना है, उन स्थानों पर कबीर की कविता की उन्होंने तीखी आलोचना की है। यह वैयक्तिक साधना का निषेध न होकर काव्य-निकष के प्रति ईमानदारी का निर्वाह है।

महात्मा गांधी को अनेकत्र अपनी अहिंसा को कायरता से अलगाना पड़ा। वीरता का मानदंड ही बदल देने से वर्धमान महावीर हुए। अन्यथा किसी अहिंसक को यह संज्ञा मिल ही नहीं सकती। कबीर भक्ति को वीर-साध्य बतलाते हैं:

भुगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारि हाथ करि, सो पैसे घर मांहि।।
प्रेम न खेती नींपजे, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रूचौ, सिर दे सो ले जाइ।। (पृ.१०३)

जीवन की सनातन-सतत साधना का नाम भक्ति या प्रेम है। अहङ्कार से मुक्त होना कोई सरल काम नहीं है। सुख और दु:ख-दोनों जागतिक मान हैं। आध्यात्मिक मानदंड तो इन दोनों से ऊपर उठना है। यह अवस्था 'आनन्दावस्था' है :

दुखिया मुवा दुख को सुखिया सुख को झूरि।
सदा आनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि।। (पृ.९०)

(४)

सुख-दु:ख भौतिक जीवन के उतार-चढ़ाव हैं और आनन्द आध्यात्मिक जीवन की प्रतिष्ठा है। कबीर की लड़ाई किससे है :

कबीर मेरे को संसा नहीं, हरि सूं लागा हेत।
काम क्रोध सूं झूझणां, चौड मांड्या खेत।। (पृ.१०२)

कबीर दुनिया को बदल रहे हैं, किन्तु आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के माध्यम से। उनका रास्ता वही है, जो महावीर और बुद्ध ने अपनाया। व्यास और वाल्मीकि ने कितना कुछ निरस्त किया और कितना कुछ जोड़ा, यह शब्दों में ठीक-ठीक कहना उसकी सूक्ष्मता के कारण कठिन है। कबीर का साध्य अध्यात्म है और साधन आध्यात्मिक। वह विभिन्न प्रकार के अहंकारों को देह व सम्पत्ति की नश्वरता के बोध से ध्वस्त करते हैं:

कबीर कहा गरबियों, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भए पलास।।
कबीर कहा गरबियो, काल गहै कर केस।
ना जांणे कहां मारिसी, कै घरि के परदेस।। (पृ.६४)

अध्यात्म सत्य की उपासना है, सत्य के पास जाना है। कबीर को अपने समय का जो-जो मिथ्यापन दिखा, उसे उन्होंने अभिव्यक्ति दी। किसी मनुष्य के हिन्दू या मुसलमान होने से बड़ा झूठ क्या हो सकता है, किन्तु इस झूठ को और इस तरह के सैकड़ों झूठों को पाला-पोसा जाता है। कबीर ने इन दो संज्ञाओं के भेद को निरस्त कर संज्ञित की एकता को प्रतिपादित किया है। अध्यात्म अपने आप में सत्य है और उसका मूल्य जब प्रतिष्ठित हो जाता है तो अन्याय, अधर्म तथा भ्रान्तियों का उच्छेद हो जाता है। वर्णवादी ऊँचता को चुनौती अध्यात्म से मिलती है:

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम्ह कैसे ब्राँह्मण पाँडे हम कैसे सूद।।

कबीर वेद और पुराण पढ़ने का फल चाहते हैं, न कि उसे भार के रूप में ढोने के पक्षपाती हैं:

वेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाँहीं, अंति पडै मुखि छारा।। (पृ.१२६)

वेद के अध्ययन की परम्परा को छूटे हुए सहस्राब्दियां बीत चुकी हैं। बीच-बीच में जो भाष्यकार हुए हैं, उनमें अधिकतर की 'जहाँ तहाँ खद्योत प्रकाश' की स्थिति है। जब कबीर लिख रहे थे, तब उत्तर भारत में वेद का कोई चिन्तक रहा होगा, यह कहा नहीं जा सकता। तब और अब, कर्मकाण्ड की बोधरहित सम्पूर्ति को वेद पढ़ना माना जाता है। पंडित कहलाने वाला वर्ग वेद पढ़ता है, यह इन संतों का नहीं, तत्कालीन पूरे समाज का एक भ्रम था। जब समाज शब्द का प्रयोग करते हैं तो यह वर्ग स्वयं भी उसमें गृहीत है। वेद के अध्ययन से जुड़े हुए लोग आज भी अत्यल्प हैं। वेद के मन्त्रों से सामाजिक क्रिया-कलापों को करवाने वाला पौरोहित्य आजीविका के अनेक विकल्पों में से एक विकल्प है। वेद के नाम से समाज जिन्हें जानता है, वह यही वर्ग है। यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि कबीर क्या, उनके समय के पढ़े लिखे तुलसी भी वेदचिंतन से दूर हैं। ये वेद नहीं पढ़ते हैं, किन्तु इनका हृदय विश्वास वेद के मुख्यार्थ को निर्धारित करता है। इनके लिए वेदार्थ भक्ति है। रामानुज का भाष्य भले नहीं पढ़ा हो, पर उसकी दृष्टि इन्हें प्राप्त है। कोई विचार जब परम्परा का सातत्य पा लेता है तो वह अपने अनुरूप

समाज बना देता है। कबीर पाठ व उसके बोध के बीच की खाई को देखते हैं और कहते हैं :

'वेद पढ्यों का यहु फल पांडे, सब घटि देखै रामा।।'(पृ.१२०)

तुलसी भी 'सियाराम मय सब जग' का मंत्र जपते हैं। समाज में जब भेद अपने चरम पर था, तब यही कविता (अध्यात्म) का उपदेश हो सकता है। हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष आदि अनेक संकीर्णताएँ उग्र हो चुकी थीं। इन भेदों का खण्डन और वैराग्य, अमृतत्व का प्रतिपादन इनके केन्द्र की दो मुख्य धाराएँ हैं। अत्यन्त भावुक शब्दों में कबीर कहते हैं :

कबीर नौबति आपणी, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ।।
जिनके नौबति बाजती, मैंगल बजते बारि।
एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि।।
सतो सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग।।
कबीर थोड़ा जीवणा, मांड़े बहुत मंड़ाण।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलतान।।
इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पड़े बिछोइ।
राजा राणी छत्रपति, सावधान किन होइ।।
कबीर पटल कारिवां, पंच चोर दस द्वार।
जन राणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार।।
कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास।।
कबीर कहा गरबियो, काल गहै कर केस।
ना जांणे कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस।। (पृ.६४)

व्यक्ति का सर्वाधिक राग देह के प्रति होता है। देह के प्रति गहन राग समाज में किन दुरवस्थाओं को जन्म देता है, इस ओर दृष्टि केन्द्रित करेंगे तो कबीर जैसे संतों के अवदान का सही मूल्यांकन हो सकेगा। मार्क्सवाद धर्म का दर्शन है और उसके प्रणेता मार्क्स में आध्यात्मिक विभूति का स्पंद था। मार्क्स की पृष्ठभूमि भोगवादी समाज में बनी होने से वह उससे जितना ऊपर उठ सकते थे, उतना उठे जरूर हैं, किन्तु उनका सारा न्याय और धर्म इस देह एवं देहार्थ पर टिका हुआ है।

मार्क्सवाद अध्यात्म का दर्शन नहीं बन सका है। वह जिस समता या साम्य की बात करता है, उसकी नींव देहार्थ ही बन सकता है। वह जिस समता या साम्य की बात करता है, उसकी नींव बाह्य सम्पत्ति में है। मार्क्सवाद और उसका साहित्य वस्तुत: पश्चिम में धर्म-अध्यात्म का अंशावतार है। भारत में इस महत्वपूर्ण विचार को इस नाम से चलने वाली राजनैतिक दलों के संदर्भ में देखा जाता है, न कि एक वैचारिकी के रूप में। मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा एवं डॉ. नामवरसिंह गंभीर चिंतन के धनी हैं और उनकी आलोचना का पूरा साहित्य समाज ऋणी है। मार्क्सवाद की सामाजिकता को ये मनीषी संत-साहित्य की वैयक्तिक साधना के आलोक से जोड़ते तो यह इस विचारधारा का नवोत्कर्ष होता, परन्तु यह नहीं हो सका।

सन्त-भक्तों की वैयक्तिक आध्यात्मिक साधना बहुमूल्य है। उसके द्वारा वह जिन समाज मूल्यों को विकसाते हैं, वे न्याय और मनुष्यता की प्रतिष्ठा करते हैं। दुर्भाग्य से, हमारा आधुनिक काल भी पाठ व बोध के बीच गहरे अन्तर को पुष्ट करता रहा। निरीहता, अकिञ्चनता, वैराग्य-ये सबके लिए सहज साध्य नहीं है, किन्तु इनका समाज में प्रतिष्ठा के केन्द्र के रूप में होना नितान्त आवश्यक है। इसके विस्थापन का अर्थ अर्थलोलुप भौतिकता के राक्षसी चेहरे को प्रतिष्ठित करना है।

यह वैराग्य उस देह के प्रति है, जिसके प्रति सर्वाधिक राग होता है। पाँचों यम यानी पंच महाव्रत इस राग की निवृत्ति हैं। भक्ति साहित्य में देहवादी दृष्टि को मनमुखी और आत्मवादी दृष्टि को गुरुमुखी कहा है। कबीर चेताते हैं :

'मन के मते न चालिए, छाड़ि जीव की बांणि।' (पृ.६९)

यह जीव की वाणी ही नानक की गुरुवाणी है। महात्मा जांभोजी अपनी सबद वाणी के चरम, १२०वें सबद में कहते हैं :

'गुरु मुख मुरखा चढै न पोहण, मनमुख भार उठावैं'

यह गुरुमुखिता और मनमुखिता हमारे जीवन की अलग-अलग केन्द्रीयता है। मनमुखिता भोग-विलास को केन्द्र मानकर चलना है और गुरुमुखिता आत्मबोध को केन्द्र बनाकर ऊँचे जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है। एक स्थूल है और दूसरा सूक्ष्म। कबीर कहते हैं :

नान्हां काती चित दे, महंगे मोल बिकाइ।
गाहक राजा राम है, और न नेडा आइ।।

चित्त को सूक्ष्म से सूक्ष्म कातने में लगाना है। यह सूक्ष्मता राजा राम ही ग्रहण कर सकते हैं। यहाँ जो जीवन-मूल्य है, वह पूरे समाज को बदल देता है। बर्बरता स्थूलता से जन्मती है और फैलती है। वर्तमान समाज में इस वैयक्तिक साधना के प्रति आस्था का अभाव है और वही इसकी क्रूरता है। यह पहले भी थी।

(५)

तुलसीदास महाकवि हैं। उनकी कविता का केन्द्र और प्रसार–दोनों ही सुदृढ़ हैं। वह अध्यात्म व धर्म दोनों के कवि हैं। प्रबन्ध काव्य लिखने के कारण वे कबीर की अपेक्षा धर्म को वृहत्तर अभिव्यक्ति दे सके हैं। दर्शन या दृष्टि के स्तर पर इन दोनों महात्माओं में किसी को अधरोत्तर कहना संभव नहीं है। कबीर के राम को हृदयंगम जिन्होंने कर लिया है, उन्हें तुलसी का राम अर्थात अध्यात्म समझने में कठिनाई नहीं होगी। तुलसी का लोक इसी अध्यात्म पर टिका हुआ है। लंका में हनुमान-रावण में बात होती है तो रावण अपनी प्रभुता की बात करता है। हनुमान उस प्रभुता को राम के बिना अप्रतिष्ठित बताते हैं :

'राम बिमुख संपत्ति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।
सजल मूल जिन्ह सरतन्हि नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।।' (सुंदरकांड)

जायसी अपना पदमावत पहले लिख चुके थे और उसका प्रभाव तुलसी पर है। आचार्य शुक्ल पदमावत के जिस बेढ़ब की आलोचना करते हैं, उसका गहरा प्रभाव तुलसी पर है। हनुमान रावण से राम विमुखता की जो बात कहते है, उसमें राम शब्द दो अर्थो में संश्लिष्ट है। पर प्राथमिक अर्थ टिक नहीं पाता है किंवा एक तरह से खो जाता है। 'राम बिमुख सम्पत्ति प्रभुताई' में मुख्यार्थ तो आत्मबोध का है। आत्मबोध या अध्यात्म के बिना जो सम्पत्ति और प्रभुता होती है, उसका होना तो न होने के समान है। वह तो उन नदियों के समान है, जिनके मूल में कोई स्रोत नहीं है। इस अ-मूल सम्पत्ति एवं प्रभुता की तुच्छता का प्रतिपादन तुलसी करते हैं।

रावण द्वारा हनुमान की पूंछ जलाना एवं लंका का जलाना–वाल्मीकि के लिए दो वीरों का घात-प्रतिघात है, जबकि तुलसी के लिए एक साधु का अपमान और दूसरा उस अपमान का अनिवार्य परिणाम है:

'साधु अवग्या कर फलु ऐसा।
जरइ नगर अनाथ कर जैसा।।' (सुंदरकांड)

यही है तुलसी का काव्य-पथ। कथा वह राम की कहते हैं और प्रतिष्ठा भक्ति-अवलम्बित

आध्यात्मिक मूल्यों की करते हैं। प्राय: सर्वत्र उनकी ऐसी ही पद्धति है। लौटकर हनुमान सीता की कथा सुनाते हैं तो राम की आँखें भर जाती हैं। तब हनुमान कहते हैं :

'कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई' (सुंदरकांड)

(राक्षसों से घिर जाना कोई संकट नहीं है। असली संकट तो तब है, जब तुम्हारा सुमिरण–भजन नहीं हो सके।)

विभीषण रावण को जिस राम से विरोध तजने को कहते हैं, वह सीता के पति, अयोध्या के नाथ, रघुकुल के तिलक, उस समय के प्रसिद्ध वीर–समय धनुर्भंग को साधने वाले महान वीर नहीं रह जाते हैं, वह त्रिलोकी के नाथ, परब्रह्म, परमात्मा बन जाते हैं :

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत।। (सुंदरकांड)

विभीषण जब रावण द्वारा निष्कासित हो राम से मिलते हैं तो यह राजनैतिक शरण देने का प्रसंग न होकर जीव द्वारा परमात्मा की शरणागति में आना है :

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।। (सुंदरकांड)

रावण का राम से विरोध तुलसी के काव्य में कुछ अलग ही है। यह तो पापी का प्रबल प्रारब्ध है कि वह परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं हो पाता है :

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ।
जौ पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई।। (सुंदरकांड)

स्पष्ट है कि तुलसी वैयक्तिक साधना (अध्यात्म) के मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करते हैं। तुलसी के राम और कबीर के राम एक ही हैं। तुलसी का परम प्रयोजन आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना है। अध्यात्म की प्रतिष्ठा वाल्मीकि भी करते हैं, किन्तु यह भक्ति के अध्यात्म से भिन्न है। विभीषण और राम का संवाद जायसी के राजा रतनसिंह और पद्मावती की तरह जीव और परमात्मा का संवाद है। विभीषण कहते हैं :

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजन न राम कहुँ लोक धाम तजि काम।।
तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कर भाथा।।
ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी।
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं।।
अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे।
तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भव सूला।। (सुंदरकांड)

यह ठीक है कि तुलसी धर्म के प्रति असावधान नहीं हैं, किन्तु उनका केन्द्र अध्यात्म है। पूरी राम कहानी अध्यात्म से श्लिष्ट हो जाती है। लक्ष्मण को वन–गमन की आज्ञा देती हुई सुमित्रा कहती है :

'पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई।।
नतरू बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी।।' (अयोध्याकांड)

रावण की मृत्यु पर शोकग्रस्त मंदोदरी पहले तो विलाप करती है, किन्तु यह कहकर धैर्य धारण करती है:

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपा सिंधु नहि आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान।। (लंकाकांड)

रावण से बचने का उपाय हरि नाम है। सीता उसी का अवलंब लिए हुए है :

जेहि बिधि कपट सुरंग संग लाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीताराखि उर रटति रहति हरिनाम।। (अयोध्याकांड)

यहाँ इसे सीता द्वारा अपने पति का नाम 'राम – राम' के संबोधन तक सीमित करना ठीक नहीं है। तुलसी का काव्यार्थ तो तभी निष्पन्न होगा, जब हरिनाम की रट लगाने के अर्थ तक हम पहुँच सकें।

६

मीराँ अपने को दासी कहने वाली राजघराने की रानी है। वैभव और सुख-सम्पत्ति का कोई अभाव उसे नहीं है। उसे जो परिवेश प्राप्त हुआ है, वहाँ जीवन की सार्थकता के जो मूल्य/निकष हैं, वे उसे स्वीकार नहीं हैं। मीराँ और राणा की टकराहट जीवन की सार्थकता के दो अलग-अलग मूल्यों की टकराहट है। मीराँ का विद्रोह पुरुषवादी वर्चस्व और सामन्ती व्यवस्था से था, यह कहा जाता है। इसे अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है, किन्तु यह मीराँ के सम्पूर्ण विद्रोह का स्वरूप नहीं है। सत्य को आधे-अधूरे रूप में व्याख्यात करना वस्तुत: उसे नकारना है। संसार का नकार और श्रीकृष्ण यानी आत्म चैतन्य का स्वीकार मीराँ का मुख्य भाव है। वह बार-बार अपने हितचिंतकों, जिन्हें वह माई या सखी कहती है, को अपने नकार-स्वीकार के औचित्य का तर्क बताती है। मीराँ के हितचिन्तकों की दृष्टि भौतिक ऊँचाइयों, वैभव, सभ्यता, कुलाभिमान, प्रभुता (रानी होने) पर है। जबकि मीराँ उनका विरोध करती है। संसार उसे रानी के रूप में देखता है, जबकि वह अपने को दासी समझती है। प्रभुता अनेक उपादानों में रहती है। जो कुलाभिमान है, वह वर्तमान के पदाभिमान का दूसरा नाम है। अभिमान और शरणागति में से भक्त दूसरे को चुनता है। मीराँ हो या कबीर, उनकी चेतना की विश्रान्ति आत्म चिंतन में है, सामाजिकता में नहीं। मीराँ की कविता पुरुष वर्चस्व को तोड़ती है तो इसे परिणाम के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। प्रयोजन के रूप में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्गवादी चेतना अन्तत: आत्मविमुख भौतिक जीवन का अहंकार है। स्त्री और पुरुष का वर्ग और उसमें एक के प्रभु होने की मिथ्या धारणा करना आत्म वैमुख्य है। जब आत्मसामुख्य की अध्यात्म दृष्टि आती है तो क्षुद्र अहंकार पर खड़ी हुई सारी भौतिक दुनिया और उसका ताम-झाम भरभरा उठता है। एक बड़ी विचित्र विवशता कवियों और विचारकों में प्राप्त होती है कि उनका उपमान उनके उपमेय के विरुद्ध होता है। जिसका निषेध करना चाहते हैं, उसी की शब्दावली का वे अवलम्ब लेते हैं। एक तरह का विरोध यहाँ प्रतीत होता है। उपमान (उपकरणों) में वह विरोध रहेगा, किन्तु उपमेय (प्रतिपाद्य) सर्वथा निर्द्वन्द्व होता है।

जिस मोल-भाव करने वाली दुनिया को मीराँ ठुकराती है, उसी का औचित्य वह इस तरह प्रस्तुत करती है-

माई री म्हाँ लियाँ गोविन्दा मोल।
थे कह्याँ छाणे म्हाँ कांचोड्डे, लियाँ बजन्ता ढोल।
थे कह्याँ मुँहौधो म्हाँ कह्याँ सुस्तो, लियारी तराजों तोल। (पद सं. २२)

तराजू पर तौल कर नफे-नुकसान का विचार करके कृष्ण-भक्ति का तर्क रखा गया है। कवि/विचारक की दृष्टि अपने ध्येय पर रहती है, अत: वह उसे व्यक्त करने के समस्त विकल्पों को अपनाता है। कबीर ने 'सुंदरि कौ अंग' और 'सूरा तन कौ अंग' के माध्यम से अध्यात्म को अभिव्यक्ति दी है:

कबीर सुंदरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजांण।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं परांण।।
कबीर जे को सुंदरी, जांणि करै विभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार।।
दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाइ।।

यहाँ शब्दावली पूरी तरह से तिरस्कृत हो गई है, अन्यथा कर दी गई है। भाषा को तिरस्कृत करना कविता के ही वश में होता है।

अपने को भक्त के रूप में साधनारत बनाए रखने की तुलना युद्ध के मैदान में टुकड़े-टुकड़े होकर कट रहे योद्धा से करते हैं:

सूरा तबही परषिये, लड़ै धणीं कै हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़े, तऊ न छाड़ै खेत।। (पृ. ६३)

भक्ति प्रेम है और युद्ध वैर। दोनों को 'टिकाव' के साम्य पर कवि एकमेक कर देता है। कविता करना तो कठिन है ही, उसे समझना भी सरल नहीं है। समझ की योग्यता सबके पास न होने से आनन्दवर्धन 'सहृदय' की परिभाषा करते हैं। 'अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम्' न करने का निर्देश परम्परा देती है। मीराँ की पदावली का काव्यार्थ मीराँ के उस संस्कार की भाषा में है, जो उसे गार्हस्थ्य में प्राप्त हुआ है। उन अनुभूतियों को वह अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है। मुमुक्षा–मुक्ति तीव्र इच्छा विरह बन जाती है। मीराँ की मुमुक्षा विरह के रूप में अभिव्यक्त नहीं होती तो उसकी वाणी भक्त मीराँ का उपदेश तो होता, कविता नहीं।

मीराँ कहती है:

को विरहिणी को दु:ख जांणै हो।
जा घट विरहा सोइ लखि है, कै कोई हरिजन मानै हो।
रोगी अन्तर वैद बसत है, वैद ही ओखद जाँणै हो।

विरह करद उरि अन्तर माँही, हरि विणि सब सुख काँठौ हो।
दुगधा आरण फिरै दुखारी, सूरत बसी सुत माँनै हो।
चात्रग स्वाति बूँद मन माँही, पोल उकलाँणै हो।। (पृ. १२०)

यहाँ विरह का स्वार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो चुका है। अध्यात्म/आत्मबोध की एक नई शब्दावली का आविष्कार अपनी चिर-परिचित दुनिया में से भक्तिकाल करता है। इस पद का परम वाक्य है:

सब जग कूडो कण्टक दुनिया, दरघ न कोई पिछाँणै हो।
मीराँ के पति रमैया, दूजो नहिं कोई छाँणै हो।। (पृ. १२०)

विरहणी नायिका की समस्त शब्दावली यानी बाट देखना, संदेशा लिखना या भेजना, पीवँ पीवँ करने वाले पपीहे से डाह, नींद न आना मीराँ की कविता में अन्यथा कर दी गई है।

कुछ काव्य पंक्तियां उद्धृत हैं:

नींदड़ी आवा णा साराँ रात, कुण विधि होय परभात (पृ. १२२)
पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिख्योरी न जाय।
कलम धरत मेरो कर कंपत है, नैन रहे झड़ लाय।। (पृ. १२३)
सखी म्यारी नींद नसाणी हो।
पिय रो पन्थ निहारता सब रैण बिहाणी हो। (पृ. १३१)

जब मीराँ के आगे कृष्ण आते हैं, तो उनकी दूरी उसे कचोटती है। यहाँ वह विरहिणी बन जाती है। जब उसके सामने जगत् आता है तो उसकी निकटता उसे मुखर करती है।

राणा और मीराँ के बीच दृष्टि-भेद है। जो रुतबा राणा के लिए गौरव है, वह मीराँ के लिए थोथा है। मीराँ के लिए भक्ति में डूबना ऊँची सिद्धि है, जबकि राणा के लिए वह अपने कुलाभिमान की क्षति है। एक राजघराने की रानी का जनसमाज में नाचना और गाना बदनामी लगती है। मीराँ इसे बदनामी नहीं मानती है:

राणा म्हाँने बदनामी लगे मीठी।
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँगी चाल अपूठी।। (पृ. ९५)

जो देश मीराँ को नहीं रुँचता था, वह देश हम सांसारिकों के लिए तो स्वप्न का संसार है:

नहिं सुख भावै थारो देसलड़ो रँगरूडो।

थारै देसाँ में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो ।।
गहणाँ गाँठी राणा हम सब त्याग्या, त्याग्यो कर रो चूड़ो ।
काजल टीकी हम सब त्याग्या, त्याग्यो छै बाँधन जूड़ो ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, वर पायो छै पूरो ।। (पृ. ९४)

आभूषणों व शृंगार की चाह और छल-छद्म हमारा संसार है, जबकि मीराँ को वह रुचिप्रद नहीं लगता है। मीराँ तो प्रेमावेश में 'पग बाँध घूँघरयाँ नाच्याँ री' कहती थी, जबकि वैसा करना एक बड़े घराने की मर्यादा के अनुकूल नहीं था। प्रभुता और प्रेम का यह द्वन्द्व है।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी के हंसोपाख्यान का एक प्रसंग है। प्रसिद्ध पक्षी विज्ञानी सलीम अली किसी अखबार में होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) के निकट नन्दनपुर में राजहंसों के प्रवास का समाचार पढ़ते हैं तो चिकित्सकों द्वारा यात्रा न करने की सलाह होने के बावजूद भोपाल और भोपाल से होशंगाबाद जाने का निश्चय कर लेते हैं। वहाँ पहुंचकर अपने ऊपर उड़ रही राजहंसों की पंक्ति देखकर न केवल तीन बार हैट उतारकर उनका अभिवादन करते हैं, अपितु भाव-विभोर हो नाचने लगते हैं। उनके साथ में उनके शिष्य प्रो. रस्तोगी हैं। उनकी नाचने की इच्छा होती है, किन्तु अपने छात्रों के हंसने तथा साथी प्रोफेसरों के उपहास के डर से वह नाच नहीं पाते हैं। सलीम अली और उनके शिष्य के बीच वही द्वन्द्व है, जो मीराँ और राणा के बीच था।

मीराँ का काव्य सभ्यता की अगंभीर/खोखली चकाचौधों का निषेध है। राणा के लिए जो आकर्षण हैं, वे मीराँ के लिए विष हैं:

आली सहेल्यां रली कराँ हे, पर घर गवण निवारि ।
झूठा माणिक मोतिया री, झूठी जगमग ज्योति ।।
झूठा आभूषणारी, सांची पियाजी रो पोति ।
झूठा पाट पटंबरा के, झूठा दिखणी चीर ।
साँची पियाजी री गूदड़ी, जामे निरमल रहे सरीर ।। (पृ. ९०)

मीराँ जिस संसार को छोड़ना चाहती है और जिस लोक में प्रतिष्ठित होना चाहती है, उसके बीच साधना का लम्बा मार्ग है। मीराँ के काव्य में उस पथ का विवरण बखूबी हुआ है :

गली तो चारो बन्द हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ।
ऊँची नीची राह रपटणी, पाँव नहीं ठहराय ।।
सोच-सोच पग धरूँ जतन से, बार-बार डिग जाय ।
ऊँचा नीचा महल पिया का, हमसे चढ़्या न जाय ।।

पिया दूर पंथ म्हाँरो झीणों, सुरत झकोला खाय।
कोस–कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड पैंड बटमार।
हे विधना कैसी रच दीन्ही, दूर बस्यो घरबार।। (पृ. २२७)

मीराँ का आदर्श प्रह्लाद है, जिसने राज छोड़ दिया किन्तु हरिनाम नहीं छोड़ा। ऊँदा बाई से संवाद के पद में पूँजी और आत्मबोध की टकराहट स्पष्ट शब्दों में है:

साधाँ की संगत दु:ख भारी, मानो बात हमारी।
छापा तिलक गलहार उतारो, पहरो हार हजारी।।
रतन जड़ित पहरो आभूषण, भोगो भोग अपारी।।
मीराँजी थे चलो महल में, थानैं, सोगन म्हारी।
(मीराँ) भावभगत भूषण सजे, सील सन्तोष सिंगार।
ओढ़ी चूनर प्रेम की, गिरधरजी भरतार।।
उदाँ बाई मन समझ, जावो अपने धाम।
राजपाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूँ काम। (पृ. २४०)

अहंकार/प्रतिष्ठा की चूनरी को हटाने वाली मीराँ प्रेम की चूनर ओढ़ती है। यहाँ काव्यार्थ का विश्राम प्रतिष्ठा के अहंकार को त्याग प्रेम को स्वीकारने में है।

भक्ति करना या भक्त होना जब प्रतिष्ठा का कारण बन जाता है तो उस प्रतिष्ठा के लोभी अपने को भक्त घोषित कर देते हैं। बाहरी दिखावा मिथ्याचार है:

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते। ६, ३ गीता

मन से तो इन्द्रियार्थों का स्मरण करते रहना और बाहर कर्मेन्द्रियों को रोके रखना मिथ्याचार है। इस मिथ्याचारी की अपेक्षा तो वह ठीक है, जो बाहर कर्मेन्द्रियों से इन्द्रियार्थों को भोगता है, किन्तु मन से ज्ञानेन्द्रियों को संयमित करता है।

यस्तित्वन्द्रियाणि मनसा नियम्यारम्भतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते।। (६, ३, गीत)

भक्तिकाल का प्रत्येक रचनाकार सूक्ष्मता की ओर जाता है। अतएव उनका संबोधन बाह्याचारों को नहीं, मन को संबोधित करता है:

भज मण चरण कँवल अविणासी।
जेताई दीसाँ धरण गगन माँ, तेताई उठि जासी।
तीरथ बरतों ग्याँण कथन्ता, कहा लयाँ करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा, माटी माँ मिल जासी।
यो संसार चहर राँ बाजी, साँझ पड्या उठ जासी।
कहा भयाँ था भगवा पहर्‌या, घर तज लयों संन्यासी।। (पृ. २०४)

राणा की शिकायत से लेकर जन्म-जन्म की पूँजी रूप राम-रतन धन पा लेने की उनकी पूरी कविता अपनी पूरी भाषा खारिज करके आत्मबोध को प्रतिष्ठित करती है। विरह के मार्मिक पद, जिनकी मीमांसा यहाँ नहीं की गई है, मुमुक्षा की पराकाष्ठा है। मुमुक्षा की इस पराकाष्ठा में जब स्वयं की संकीर्णताएँ टूट जाती हैं तो समाज की सीमाओं का बचना संभव नहीं है। ग्रन्थावली के अन्तिम २६८वें पद में रामरतन धन पा लिया है और अन्तिम २६९ में पूर्णकाम भक्त की हँसी है:

पानी में मीन प्यासी, मोहे सुन सुन आवत हाँसी।

यह हँसी अविनाशी के सहज मिल जाने के बोध से उत्पन्न हुई है। वह सारे भटकाव का कारण आत्मबोध के अभाव को मानती है:

आत्मज्ञान बिन नर भटकत है, कहाँ मथुरा कहाँ कासी।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम मथुरा और काशी का निषेध तो कर देते हैं, किन्तु आत्मज्ञान का विधान नहीं कर पाते हैं। अतएव हमारे पास भक्ति की कविता नहीं है। वह प्रभुता का निषेध करके भी प्रभुता की कविता होने को अभिशप्त है।

(६)

सूफी संत मलिक मोहम्मद जायसी महाकवि हैं। तुलसी बाबा के पूर्वज इस महाकवि की रचना में सहज प्रतिभा का चमत्कार है। रामचरित मानस हिन्दी का शिरोमणि महाकाव्य है तो उसकी पंक्ति में विराजमान होने का अधिकार केवल पद्मावत के पास है। मैथिलीशरण गुप्त ने रामचरित को गाने वाले के महाकवि बन जाने की जो सहज संभाव्यता बताई है, वह राम के प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति मात्र नहीं है। वह उसके कथानक की महाकाव्यता की सिद्धि में सहज सहायता को भी इंगित करती है। शुक्ल जी ने रामचरितमानस से पद्मावत को कुछ नीचे स्थान दिया है तो वह अन्तर कथानक-चयन से है। कथानक

यानी वस्तु में महाकाव्यता को खपाने का सामर्थ्य होना आवश्यक है। महाकाव्य की वस्तु इतिहासोद्भव हो तो उसकी सफलता अधिक संभावना लिए हुए रहती है। यद्यपि उसके भीतर पैठना और जीवन की समग्रता को साधना तो कवि की प्रतिभा पर ही अन्ततः अवलम्बित है तथापि कवि को बड़ी सहायता उससे मिलती है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि महाकवि जायसी रससिद्ध कवि हैं और उनकी एक-एक काव्यपंक्ति अमूल्य है, किन्तु इतने महान् रचनाकार, सूर-मीराँ-रहीम-रसखान से बहुत बड़े रचनाकार के कृतित्व में जीवन की सारे उतार-चढ़ाव न होने की आलोचना यथार्थ है। यह ठीक है, परन्तु जिस वर्णना को वह उठाते हैं, वहाँ वह तुलसी से रत्तीभर भी कम नहीं हो सकते हैं, अधिक भले ही सिद्ध हो जाए। उनकी दृष्टि जीवन के भौतिक-व्यापारों को निरस्त करने के बाद ही स्थिति पर टिकती है। तुलसी का अन्यार्थ जहाँ अर्थान्तरन्यासों व दृष्टांतों में प्रकृत को मान्यता देने के बाद या उसे लिए हुए आता है, वहाँ जायसी का अन्यार्थ यथार्थ को तिरस्कृत करके आता है। सिंहल द्वीप की पद्मिनियाँ जब खेलती हैं तो वह खेल कोई दूसरा ही खेल बन जाता है:

सखी एक तेइँ खेल न जाना।
चित अचेत भइ हार गँवाना।। (पृ. १३०)

जायसी का अध्यात्म न तो तुलसी की तरह धर्म-विमर्श से लगा हुआ चलता है और न वह मीराँ की मुमुक्षा है। यह उस दुर्निवार आकर्षण का निषेध है, जो संसार के प्रति होता है। जो संसार है, उसके न होने की, स्वप्नवत् होने की मान्यता इनके अध्यात्म में है। जो-जो कहानी जुड़ती है वह-वह कहानी खारिज हो जाती है। सखियों का खेलना खारिज हो जाता है और रह जाती है चित्त के अचेत होते ही हार के खो देने की कहानी।

पद्मावती के महल से उड़ा हुआ तोता अन्य पक्षियों के साथ चिड़ीमार के हाथ पड़ जाता है। वहाँ अन्य पक्षी अपने आप में रो रहे थे : 'आपु आपु महं रोदन करहीं' यह अपने आप में रोना पश्चात्ताप है और इसका संबंध अन्य से नहीं है। यह विशुद्ध वैयक्तिक रोदन/रूदन है जिसके कारण डैनों को चूर-चूर करके उनकी स्वतंत्रता को हर लिया गया और जिसके कारण उनका अस्तित्व मिट गया, वह क्या है, यह महाकवि के शब्दों में द्रष्टव्य है: 'बिख दाना कत दैय अंकूरा। जेहि भा मरन, इहन धरि चूरा'। प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं कि यह 'बिखदाना' विषयोपभोग है। इसके होने से अपने ठगे जाने का चिन्तन करता हुआ 'व्यक्ति' अपने भीतर झांकता है तो वहां भी कोई दोषी, बड़ा दोषी मिल जाता है:

'यहु मन कठिन मरै नाहिं मारा।
जार न देख देख पै चारा।।' (दो. ७०, पृ. १३०)

जाल और चारा–दोनों ही सामने थे किन्तु मन को नहीं मारने से जाल नहीं दिखा, चारा दिखलाई पड़ा। तोते और चिड़ीमार की कहानी एक तरफ हो जाती है और विषय व उनकी वासना हमारी कहानी के रूप में आ जाते हैं। 'एइं बिख चारैं सब बुधि ठगी। और भा काल हाथ लै लगीं।' कहने वाले पक्षी तोते से पूछते हैं कि तुम तो पंडित हो, तुम फँदे में कैसे आ पड़े? तोते का जवाब है:

सुखी चिंत जोरब धन करना। यह न चित आगे है मरना।
भूले हमहु गरब तेहि माहाँ। सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ।।

यह वह सामान्य (कॉमन) अध्यात्म है, जो भक्तिकाल की पहचान है। धन जोड़ना और मृत्यु होने की वास्तविकता को भुलाए रखना जिस सृष्टि को बनाता, सजाता और सँवारता है, उस सृष्टि के हाहाकार का कोई पार नहीं है। अध्यात्म उस सृष्टि का निषेध है। जायसी इस निषेध के महाकवि हैं। वैराग्य और मुमुक्षा में कारण–कार्य का संबंध मानना कठिन है, किन्तु मुमुक्षा की उत्पत्ति में इस सृष्टि से वैराग्य/मोहभंग आवश्यक है, यह कहा जा सकता है। मीराँ में मुमुक्षा की प्रधानता है और जायसी में वैराग्य की। इन दोनों के अध्यात्म का यह भेद है। 'गरब' और 'बिसरने' का संबंध है। जिससे पाया, उसे भी भूल जाने को ही गर्व कहें तो भी गलत नहीं होगा।

हीरामणि तोते का उत्तर सुनने के बाद पक्षियों की स्वीकारोक्ति विचार योग्य है। बहलिये के सिर दोष मंढ़ने वाले पक्षियों को बोध होता है कि उनकी अपनी तृष्णा, उनका अपना लोभ, उनका अपना अभिमान और उनकी अपनी बेपरवाही दोषी है:

भै बिआधि तिस्न संग खाधू। सुझै भुगुति, न सूझ बिआधू।
हमहिं लोभ ओहूँ मेला चारा। हमहिं गरब वह चाहै मारा।
हम निचिंत वह आउ छपाना। कौनु बिआधहि दोख अपाना।। (दो. ७२, पृ. १३२)

सम्पत्ति की होड़ जब इस संसार का परम बिन्दु है तो बाजार का निषेध अध्यात्म का मूल्य है। पिंजड़े में उस तोते को कैद कर चिड़ीमार उसे बेचने बाजार में जाता है। चिड़ीमार से खरीदने वाले गुण–ग्राहक न होकर मांसभक्षी सभ्य समाज/नागरिक समाज है।

ब्राह्मण चिड़ीमार को निष्ठुर कहता है:

कत रे निठुर जिउ वधसि परावा। हत्या केर न तोहि डरु आवा। (दो. ७८, पृ. १३७)

मध्यकाल का पूरा साहित्य जिस अध्यात्म की प्रतिष्ठा करता है, उसमें प्राणियों की हिंसा से आहार का न केवल निषेध है, अपितु उससे घोर वितृष्णा है। मध्यकाल का जन समाज रक्तपात से दूर हो रहा था और हिंसा को 'पाप' के रूप में मान चुका था। अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ दुर्ग में आने पर प्राणियों का मांस पकाने का वर्णन जायसी करते हैं। उस प्रसंग में भक्तप्रवर मलिक मोहम्मद जायसी का दोहा अनेक मर्म लिए हुए है:

कंठ परी जब छुरी, रक्त ढरा, होइ आंसु।
कै आपन तन पोखा, भा सो परावा माँसु।। (दो. ५४१, पृ. ५१६)

छुरी चलने, रक्त ढ़रने, आंसु गिरने की तीन क्रियाओं में क्रमश: निर्ममता, जुगुप्सा और ग्लानि है। ये तीनों एक बोध में परिणत होते हैं। 'आपन तन पोखने' की स्वार्थमयता को सामने लाने का बड़ा काम यह कविता करती है। खैर, हिंसा और वध को जायसी विमर्श का विषय बताते हैं। चिड़ीमार अपने द्वारा हत्याएँ करने का कारण बाजार बने हुए नागरिक समाज को बताता है :

कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे परमँ सुखवा।
जौ न होत अस परमँस खाधू। कत पंखिन्ह कहँ धरत बिआधू।। (दो. ७८, पृ. १३७)

यह सभ्य नागरिक समाज घृणा का पात्र बहेलिये को बनाता है, जबकि असली निष्ठुरता तो स्वयं उसी की है। यह कहना महाकवि का अभीष्ट है, अन्यथा 'निठुर ते कहिअ' का प्रतिवाद क्यों उठता। बाजारवाद शब्द जरूर इक्कीसवीं सदी का है, किन्तु बाजार और उसकी चालें अध्यात्म-चिन्तकों के लिए सदैव विचार-विषय रही हैं। ब्राह्मण जब तोते को परीक्षा लेने की दृष्टि से 'पंडित हहु तो सुनावहु बेदु' की चुनौती देता है तो तोते का उत्तर है:

तढा गुन मोहि अहा हो देवा। जब पिंजर हुंत छूट परेवा।
अब गुन कवन जो बंदि जजमाना। घालि मंजूसा बेचै आना।
पंडित होइ सौं हाट न चढ़ा। चहौं बिकान भूलि गा पढ़ा।।

(हे ब्राह्मण देवता ! मुझ में गुण तब था, जब मैं पिंजर से छूटा था। अर्थात् मुक्त हुआ था। अब कैसा गुण, जब बंदी हूँ। मुझे तो पेटी (मंजूषा) में डालकर बेचा जा रहा है। पंडित तो वह होता है जो बिकने के लिए हाट पर नहीं आता है। अब तो मैं बिकना चाहता हूँ और जो पढ़ा था, वह भूल गया हूँ।)

जायसी का प्रेम संसार का विलोम है और अध्यात्म की अपर-संज्ञा। सूफी साधना को फकीरी और साधक को फकीर कहने-कहलाने की जो महान् परम्परा है वह लेन-देन की बाजारू दुनिया के उपहास का फक्कड़पन है। जायसी अपने महाकाव्य के आरंभ में उसका बीज-न्यास प्रभावी करते हैं किन्तु फलपर्यन्त उसे उस रूप में निभा सके हैं, यह कहना ठीक नहीं होगा। प्रेम का पन्थ अन्त तक है अवश्य, किन्तु किनारे लगा हुआ। सिंहल द्वीप में पद्मावती व राजा के बीच लुकाछिपी, राघव चेतन द्वारा स्त्रियों की कोटियों का वर्णन, अलाउद्दीन का चित्तौड़ में सत्कार आदि में कहानी इस तरह केन्द्रित हो जाती है कि पद्मावती का जौहर तक मार्मिकता की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचता है।

ऐसा होते हुए भी पद-पद पर जायसी की जागरूक चेतना आत्मसामुख्य की ओर ले जाती है, यह स्वीकारना होगा। तोते को मारने से दासी को जो विचार रोकता है, वह है:

दुई सो छपाए ना छपैं एक हत्या ओ पापु।
अंतहु करहिं विनास, ये सै साखी दै आपु।। (दो. ८६, पृ. १४४)

हत्या और पाप छुपाने पर नहीं छुपते, यहाँ तक तो कई कवि कह चुके हैं। इनके द्वारा अपनी साक्षी स्वयं देने और अन्तत: विनाश करने की बात जायसी ने मार्मिक रूप से कही है। यही नहीं, अपितु नागमती द्वारा तोते पर 'रुहिर चुअै, जब जब, कह बाता' का आरोप लगाया जाता है तो राजा चित्रसेन (रत्नसेन) उसकी वास्तविकता को यों प्रस्तुत कर देता है:

पंडित राते बदन सरेखा।
जो हत्यार, रुहिर पै देखा।। (दो. ८८, पृ. १४६)

पंडित व सरेख (ज्ञाता) रक्त वर्ण के होते ही हैं, जो हत्यारे होते हैं, उन्हें उनके मुँह पर रक्त (खून) दिखता है। अपने मन से तोते को मार चुकी रानी नागमती को इससे बड़ा यथार्थ बोध क्या करवाया जा सकता है !

इस तरह सर्वत्र अपनी दृष्टि (अध्यात्म) को प्रतिपादित करते हैं। यह प्रतिपादन विकीर्ण है, प्रकरणों की शक्ति से संघटित नहीं है। इन विकीर्ण रत्नों की मूल्यवत्ता कहीं से भी न्यून नहीं है। उनमें गहन बोध समाविष्ट है।

कुछ अन्य निदर्शन हैं:

तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा। (दो. १२३, पृ. १७८)
पंडित भुलान न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूँछ न कालू। (दो. १२७, पृ. १८२)

उठै लहरि नहिं जाइ संभारा। चढै सरग औ परै पतारा।
डोलहि बोहितल हरैं खाहीं। खिन तर खिनहिं होहिं उपराहीं।
राजै सो सतु हिरदैं बाँधा। जेहि सत टेकि करै गिरिकाँधा।।(दो. १५०, पृ. २००)
भले हैं सो साहि पुहुमिपति भारी। मांग न कोइ पुरुख है नारी।
जौं सौ चक्कवै ना कहं राजू। मंदिर एक कहँ आपन साजू।। (दो. ४८९, पृ. ४७५)

इन चार उद्धरणों में योग व भोग का विरोध, काल की अनिवार्यता एवं मानव की उसे रोकने की उपहासास्पद चेष्टा, साधना-पथ के विघ्नों की प्रबलता वर्णित है। यह व्यक्ति को एक भिन्न मानस देती हैं। जायसी अपने काव्य का उपसंहार दार्शनिक भूमि पर जाकर करते हैं:

एहि जग काह जो आथि, निआथी।
हम तुम्ह नाहँ दुहूँ जग साथी।।

अर्थात् इस जगत् की व्याख्या उसकी क्षणिकता/निस्सारता में करते हैं। इस जग में जो अस्ति है, वह नास्ति भी है। जो अस्तित्ववान् लगता है, अन्ततः वह नहीं है। संसार का साथ नित्य नहीं है। रानियाँ कहती हैं कि राजा और उनका साथ नित्य है। उनके प्रेम को जायसी अ-मर बताते हैं, जबकि संसार तो नाशधर्मा है:

जो रे उवा, सो अँथवा, रहा न कोई संसार। (दो. ६५०, पृ. ६००)

जो उदय हुआ, उसका अस्त हुआ है। संसार रहता नहीं है। संसार के न टिकने का अध्यात्म जायसी की कविता में है।

(८)

अपार प्रतिभा-संपन्न सिद्ध महाकवि सूरदास का सूरसागर अपनी विशालता एवं गहराई-दोनों निकषों से सागर है। रामचरितमानस मध्यकाल की रामायण है तो सूरसागर उसकी भागवत है। मानस धर्म का प्रतिष्ठापक है, जबकि सूरसागर धर्म संस्थापक के यत्नों को लीला के रूप में गाता है। शरणागति और वह भी अपनी दुर्बलताओं के विरुद्ध शरणागति की भक्ति सूरदास की कविता में है।

'सूर कामी-कुटिल सरन आयौ' (पद-५, सूरसागर)
'मोह-समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि' (पद-१११, सूरसागर)

सूर अपनी भीतरी दुनिया को बाहर की दुनिया में देखते हैं:

प्रभु जु, यौं कीन्ही हम खेती।
बंजर भूमि, गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती।
काम–क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज–तामस सब कीन्हौ।
अति कुबुद्धि मन हाकनहारे, माया जूआ दीन्हौ।। (पद–१८५, सूरसागर)

इनके लिए ईश्वर शुद्ध–बुद्ध का ग्राहक न होकर 'पतितपावन' है:

'पतितपावन जानि सरन आयौ' (पद–११९, सूरसागर)

सूरदास खल–तारने को बड़ा काम बतलाते हैं और उस समय वह खल स्वयं वह होते हैं। अध्यात्म सामाजिक नहीं, वैयक्तिक साधना है, इसकी प्रतिपद पुष्टि सूरदास करते हैं। तथापि यह वैयक्तिक साधना सामाजिक बोध को बदलती है। सूरदास की दृष्टि 'आत्म' पर है, किन्तु अनायास 'समाज' का ग्रहण भी उनके काव्य में हो गया है:

ऐसौ को ठाकुर, जन–कारन दुख सहि, भलौ मनावै? (पद–१२२, सूरसागर)

मध्यकाल का भक्त अपना ठाकुर कृष्ण को कहता है। दुनिया का ठाकुर सम्पत्ति और शासन है। वह अपने पतन एक व्यक्ति के रूप में पतन को सम्बल/साधन बनाते हैं और श्रीकृष्ण को पतितपावन होने की चुनौती देते हैं। सर्वत्र यह दृष्टि पसरी हुई है:

दीन–नाथ अब बारि तुम्हारी।
पतित उघारन बिरद जानि के, बिगरो लेहु संवारी। (११६, सूरसागर)
तातै तुम्हरौ भरोसौ आवै।
दीनानाथ पतित–पावन, जस वेद–उपनिषाद गावै। (१२२, सूरसागर)
दीन कौ दयाल सुन्यौ, अभय–दान–दाता (१२३, सूरसागर)
प्रभु, तुम दीन के दुख–हरन। (२०२, सूरसागर)

सूरसागर का प्रथम स्कन्ध विनय कहा गया है। सूर सूर होकर यहीं पर घिघियाए हैं। महा–अधम संसारी (पद–१७३), हरि हौं सब पतितन कौ राजा (पद–१४४), हरि हौं सब पतितनि पतितेस (१४१) प्रभु, हौं सब पतितन की टीकौ (१३८) आदि आदि वाक्यों से वह बार–बार मानो अपने शुद्ध–बुद्ध होने के आरोप से मुक्त होने की सफाई दे रहे हैं। शरणागति अभिमान के सर्वथा क्षय का नाम है। यह शरणागति सूरदास में है। काम–क्रोधादि विषयों की प्रबलता को रत्तीभर चुनौती देने का सामर्थ्य अपने में नहीं मानते हैं, अपितु वह काम अपने हरि को सौंप देते हैं। रावण, कंस आदि लोक पीड़कों का

वध और दुनिया के अनेक उत्पातों से सूर अनजान नहीं हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भीतर के प्रबल शत्रुओं की ओर टिकी हुई है। वह इनके हाथों अपने बहुत नाचने को जानते हैं। सूर की कविता धर्म और अधर्म को जानती है। इस कविता में ये दोनों कार्य हैं। वह कार्यों को गौण स्थान देती है और सीधे कारण को पकड़ती है। कृष्ण की समस्त लीला, बाहर की पीड़ाएँ और उत्पात तो इन्हीं का अनुकार्य है।

पूतना, शकटासुर, कंस आदि का वध आदि का वर्णन वह करते हैं किंतु वे उनके गान के प्रस्ताव मात्र हैं न कि टिकाव या विश्रान्ति।

सूरदास बालभाव के उपासक हैं। राग और द्वेष से मुक्त और आनन्द से परिपूर्ण बालभाव आत्मा का शुद्ध रूप या स्व-भाव है। उपनिषद् बालभाव में प्रतिष्ठित होने का उपदेश करती है। जिसे गोपी-भाव कहा गया है, उसकी विश्रान्ति अन्ततः इसी में है। हृदय की शुद्धता आनन्दावस्था है। सूरदास की संपूर्ण दृष्टि वहीं प्रतिष्ठित है।

भक्तिकाल मध्यकाल की मुख्य पहचान के रूप में की गई संज्ञा है। संस्कृत की परम्परा में प्रतिष्ठित भक्ति इस समय हिन्दी (इस नाम से संकलित अवधी, ब्रज, राजस्थानी) भाषाओं की कविता में प्रतिष्ठित हुई। इसका स्वभाव बाहरी वैभव यानी धन-सम्पदा की जीवन में केंद्रता को विस्थापित करना है। यह काम समस्त कवि समान रूप से करते हैं। यह कविता आत्मबोध की प्रतिष्ठा करती है। आत्मबोध या अध्यात्म की यह आराधना कहीं धर्मसापेक्ष है तो कहीं भी उसके विरुद्ध नहीं है। वह उपासना की किसी एक पद्धति को विस्थापित कर किसी अन्य की स्थापना में कहीं भी प्रवृत्त नहीं है। वह पद्धति-पद्धति में आए ठहराव को इंगित करती है। वह ठहराव के मूल की ओर जाती है, उसकी बाह्य अभिव्यक्ति पर नहीं। आत्मबोध स्वयमेव मिथ्याचार का निरास है। प्रकाश की प्रतिष्ठा भक्तिसाहित्य में निहित अध्यात्म करता है। प्रकाश का अस्तित्व स्वयमेव तमस का निषेध है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. धम्मपद, विपश्यना विशोधन न्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी
२. महावीर वाणी, सं. बेचरदास दोशी, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
३. रहीम रचनावली, सं. सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
४. कबीर ग्रंथावली, सं. श्यामसुन्दरदास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
५. रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर
६. पदमावत, सं. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, भारती भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९७३
७. सूरसागर, सं. नन्ददुलारे वाजपेयी
८. मीराँबाई की सम्पूर्ण पदावली, सं. रामकिशोर शर्मा, सुजीत कुमार शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, २०१६।